विज्ञानः सवाल बुनियादी बनाम उपयोगी का

बुनियादी और उपयोगी विज्ञानों के बीच भेद नीति और अनुसंधान का निर्धारण करता है। इसमें ज़्यादा परिणामोन्मुखी विज्ञानों को तरजीह मिलती है। ये सरहदें आधुनिक विज्ञान में धुंधली पड़ रही हैं और एक को तरजीह देना दूसरे के साथ छल साबित होता है।

डॉ. अश्विन साई नारायण शेषशायी

केम्पेगौड़ा अंतर्राष्ट्रीय हवाई अड्डे से बैंगलोर की ओर 20 किलोमीटर ड्राइव करें तो आप गांधी कृषि विज्ञान केंद्र के द्वार पर होंगे। यह शासकीय कृषि विज्ञान विश्वविद्यालय का विशाल परिसर है। इस द्वार के पीछे सार्वजनिक सड़कें हैं जिनके दोनों और आम के पेड़ लगे हैं। गणेश मंदिर से बाईं ओर मुड़िए और जल्दी ही आप एक आलीशान गेट पर पहुंचेंगे जहां सुरक्षा गार्ड्स की बड़ी फौज तैनात है।

इन अनाकर्षक दरवाज़ों के पीछे भूरे पत्थरों से बनी एक डिब्बेनुमा इमारत है। उसके पीछे हरा-भरा लॉन है जिसके बीचोंबीच फाउंडेशन वृक्ष एकदम अकेला-सा खड़ा है। यहां एक काफी बड़ी-सी शीशा जड़ी इमारत, जिम, फिटनेस सेंटर, स्विमिंग पूल और इनडोर खेलों की सुविधा भी है। बाहर से आने वाले लोगों के लिए एक अस्पताल भी है।

यह हरा-भरा प्रागंण थोड़ा फुरसतिया सुस्ती का एहसास ज़रूर देता है मगर यह वैज्ञानिक गहमा-गहमी का केंद्र है। शीशा-जड़ी इमारत के खुले अहातों में आपको वे उपकरण नज़र आएंगे जो इतना शक्तिशाली चुंबकीय क्षेत्र पैदा कर सकते हैं कि परमाणुओं के अति-सूक्ष्म केंद्रकों को उजागर कर दें; एक और उपकरण है जो एक्स किरणें छोड़ता है जो परमाणुओं से टकराकर परावर्तित हो जाती हैं; ऐसी मशीनें हैं जो किसी भी जीवधारी के डीएनए को पढ़ सकती हैं; तमाम किस्म के प्रकाशीय उपकरण हैं जो नन्हीं-नन्हीं जीवित कोशिकाओं की आंतरिक सामग्री और क्रियाकलापों को देखने में मदद करते हैं। लोगों के हूजूम - पीएच.डी. छात्र, उनके सुपरवाइज़र्स, वैज्ञानिक वगैरह - वहां चहलकदमी करते हैं, हाथों में बर्फ की बाल्टियां, कांच के बीकर, लैपटॉप्स और नोटबुक्स उठाए।

यह नेशनल सेंटर फॉर बायोलॉजिकल साइन्सेज़ (राष्ट्रीय जीव विज्ञान केंद्र, एनसीबीएस) का परिसर है। एनसीबीएस परमाणु ऊर्जा विभाग के टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च यानी टी.आई.एफ.आर. (मुंबई) के अधीन एक राष्ट्रीय प्रयोगशाला है। 25 वर्ष पुरानी यह संस्था और दूसरी अपेक्षाकृत युवा संस्था इंस्टीट्यूट ऑफ स्टेम सेल बायोलॉजी एंड रिजनरेशन एक ही परिसर में हैं। एन.सी.बी.एस. भारत में बुनियादी विज्ञान के चंद गढ़ों में से एक है। मैं इस संस्था से काफी परिचित हूं क्योंकि मैं यहां फैकल्टी के नाते एक प्रयोगशाला का संचालन करता हूं।

विज्ञान को आम तौर पर बुनियादी और उपयोगी में बांटा जाता है। यह विभाजन मात्र अकादमिक दिलचस्पी की बात नहीं बल्कि नीतियों के लिहाज़ से भी महत्वपूर्ण है जो सरकारी फंडिंग की प्राथमिकताओं का निर्धारण करता है।

बुनियादी या मूलभूत अनुसंधान को सामान्यतः इस तरह परिभाषित किया जाता है कि वह सिद्धांत निर्माण या उनके परीक्षण का काम है जो हमारे प्राकृतिक विश्व और उसके आगे की समझ बनाने में मददगार होते हैं। उपयोगी विज्ञान मौलिक विज्ञान है जो किसी आर्थिक अथवा सामाजिक महत्व की मौजूदा समस्या को हल करने के लक्ष्य से किया जाता है। जीव विज्ञान के क्षेत्र में, यह गणना करना कि किसी प्राचीन बैक्टीरिया की जेनेटिक सामग्री किस दर से उत्परिवर्तित होती है, बुनियादी अनुसंधान माना जाता है। दूसरी ओर, किसी ऐसे उत्परिवर्तन की खोज करना जिसकी बदौलत किसी बैक्टीरिया में किसी एंटीबायोटिक के खिलाफ प्रतिरोध पैदा होता है, ताकि कोई दवा विकसित की जा सके जो उस उत्परिवर्तित बैक्टीरिया को मार सके, इसे मौलिक

उपयोगी शोध कहा जाता है। वनस्पति के सत का अध्ययन जिससे कोई ऐसा अणु खोजने में मदद मिले जो एंटीबायोटिक-प्रतिरोधी बैक्टीरिया को मार सके, मगर इस क्रिया के क्रियात्मक आधार की खोज न करे, इसे उपयोगी शोध तो कहा जाएगा, मगर मौलिक नहीं।

काफी लोग मानते हैं कि विज्ञान के फंडिंग में उपयोगी शोध को प्राथमिकता दी जानी चाहिए, खास तौर से आर्थिक मंदी के दौर में। यह बात खास तौर से मानविकी में अकादमिक विभागों को बंद करने में झलकती है, जो दुनिया भर में अत्यंत बुनियादी अनुसंधान (शायद विज्ञान न हो) का प्रतिनिधित्व करते हैं। हालांकि यह साफ नहीं है कि क्या भारतीय नीति निर्माताओं के मन में भी ऐसा दृष्टिकोण है या नहीं मगर कही-सुनी बातों से यही एहसास बना है।

हाल के महीनों में, मीडिया में रिपोर्ट आई हैं कि सरकार की अपेक्षा है कि अनुसंधान संस्थाएं अपने फंडिंग की व्यवस्था स्वयं करें; कि उपलब्धियों, शोध की उपलब्धियों का भी, मापन एक-दो साल की छोटी अवधि में मिलने वाले लाभों के आधार पर किया जाए। सच हो या न हो मगर ऐसी खबरों ने ऑनलाइन सोशल नेटवर्क पर काफी शोरगुल पैदा किया है। प्रमुख लोगों ने भी कहा है कि भारतीय अनुसंधान संस्थाएं ऐसे उत्पाद बनाने में नाकाम रही हैं जो सामाजिक व आर्थिक प्रगति में योगदान दे सकें और इस नाकामी को उनके असंतोषजनक प्रदर्शन का द्योतक माना जाता है।

कोई भी शोध संस्थान प्रायवेट फंडिंग या तो तब हासिल कर सकता है जब वह बाज़ार में बिकने योग्य अनुसंधान विकसित करे, जिससे तात्कालिक लाभ मिल सकें या फिर परोपकारी व्यक्तियों और प्रतिष्ठानों से। बुनियादी शोध के लिए परोपकारी फंडिंग भारत में तो बहुत बिरला है (कुछेक अपवादों को छोड़ दें)। यानी पहला वाला विकल्प ही शेष रहता है।

शोध संस्थानों को बाज़ार में बिकने योग्य अनुसंधान करने से और कुछ नहीं, उनमें रचे-बसे रवैये ही रोकते हैं मगर सवाल यह है कि क्या उन्हें ऐसे काम पर ज़ोर देने को मजबूर किया जाए।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने एक नई शिक्षा नीति के लिए धरातल तैयार करते हुए, यह सवाल पूछा है कि क्या वह "अपने संसाधन उदारवादी कला तथा सामाजिक विज्ञान समेत अनुसंधान विश्वविद्यालयों पर लगाए"; मगर ऐसा करने के लिए जो कारण वह देता है वह "विश्व स्तर पर भारत की रैंकिंग सुधारने" के राजनैतिक-आर्थिक तर्क पर आधारित है। इस संदर्भ में यह सवाल प्रासंगिक हो जाता है कि क्या बुनियादी और उपयोगी अनुसंधान के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा मौजूद है, और क्या इस विभाजन के आधार पर सरकारी फंड से चलने वाले अनुसंधान की प्रकृति तय होनी चाहिए।

विभाजन की समस्या मुश्किल है। विज्ञान के दार्शनिक कार्ल पॉपर विज्ञान और गैर-विज्ञान के बीच फर्क करने में उलझे रहे थे। उनके मुताबिक, विज्ञान को गैर-विज्ञान से अलग करना सिर्फ खंडन के माध्यम से ही संभव है। दूसरे शब्दों में, विज्ञान ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित करने की गतिविधि है जिनको प्रयोगों के माध्यम से गलत साबित किया जा सके। यदि किसी सिद्धांत में सब कुछ - गलत हो या सही - फिट किया जा सके, उसे वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता।

एक मायने में, पॉपर की परिभाषा के अनुसार, विज्ञान परिकल्पनाओं के आधार पर आगे बढ़ना चाहिए। यह परिभाषा आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में समस्यामूलक है क्योंकि आजकल ज़्यादातर विज्ञान विशाल आंकड़ों में पैटर्न खोजने का नाम है। यह विज्ञान किसी सिद्धांत या परिकल्पना की जांच के मकसद से नहीं किया जाता।

कोई विचारवान दार्शनिक इन गतिविधियों को भी शायद पॉपर की परिभाषा के तहत रख सकता है। मगर इतना स्पष्ट है कि विज्ञान और गैर-विज्ञान के बीच विभेद ही काफी चुनौतीपूर्ण है, और पॉपर जैसा मेधावी व्यक्ति भी एक विवाद-योग्य समाधान ही पेश कर पाया था। इसके चलते विज्ञान के दो तथाकथित रवैयों और तरीकों के बीच भेद कर पाना तो और भी दुष्कर हो जाता है।

बुनियादी विज्ञान के ऐसे कई उदाहरण हैं जो अंततः दैनिक जीवन के ताने-बाने में फिट हो गए, हालांकि उनके मूल प्रवर्तकों ने ऐसे किसी उपयोग के बारे में सोचा तक नहीं था।

उदाहरण के लिए, संख्याओं का अध्ययन हमारे अत्यंत प्राचीन पूर्वजों के समय से होता रहा है। वे लोग संख्याओं में पैटर्न से इतने प्रभावित थे कि पायथागोरस घराने ने तो यहां तक कह दिया था कि "ईश्वर संख्या है"। आज इसे विशुद्ध गणित के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है मगर संख्या सिद्धांत अनन्य रूप से क्रिप्टोग्राफी (कूट-विज्ञान) के साथ गूंथा हुआ है और क्रिप्टोग्राफी का व्यापक उपयोग वित्तीय व राष्ट्रीय सुरक्षा के क्षेत्र में होता है।

इसी प्रकार से, फिंच नामक पक्षियों की चोंचों की प्रकृति पर आधारित डारविन का जैव विकास का सिद्धांत आज संक्रामक रोगों के प्रसार के अध्ययन के केंद्र में है। रोग प्रसार विज्ञान यह समझने का प्रयास करता है कि महामारियों की गति क्या होगी और किसी स्थानीय रोग के वैश्विक होने की संभावना कितनी है।

1920 के दशक में, ब्रिटिश बैक्टीरिया-वैज्ञानिक फ्रेडरिक ग्रिफिथ ने मृत रोगजनक बैक्टीरिया को उनके जीवित मगर अहानिकर सम्बंधियों के साथ मिश्रित किया था। इसे अब हम ग्रिफिथ प्रयोग कहते हैं। उस समय, उनकी दिलचस्पी सिर्फ निमोनिया पैदा करने वाले बैक्टीरिया के गुणधर्मों की सूची तैयार करने में थी ताकि उन्हें रोका जा सके। उस समय उन्हें तनिक भी आभास नहीं था कि उनके निष्कर्षों के आधार पर अनुसंधानों की बाढ़ आ जाएगी, जिसकी परिणति इस ज्ञान में होगी कि हमारा आनुवंशिक पदार्थ डीएनए है। इस ज्ञान ने अगले 50 वर्षों में जैव-टेक्नॉलॉजी क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया।

यह एक उदाहरण है कि कैसे तात्कालिक चिकित्सा लाभ की दृष्टि से किया गया अनुसंधान बुनियादी शोध और आगे चलकर औद्योगिक उपयोग का आधार बना।

राष्ट्रीय जीव विज्ञान केंद्र (एनसीबीएस) और इंस्टीट्यूट ऑफ स्टेम सेल बायोलॉजी एंड रिजनरेशन (इनस्टेम) वे दो संस्थान हैं जिनके परिसर में मैं काम करता हूं। ये दो संस्थान मिलकर जीव विज्ञान के पूरे परास में फैले कई विषयों पर अनुसंधान करते हैं। जैसे इस बात का अध्ययन करना कि प्रोटीन के अणु में किसी परमाणु की गति प्रोटीन को उसका कामकाजी आकार प्रदान करती है; यह समझने की कोशिश करना कि कोशिकाएं जैसी आज हैं, वैसी कैसे बनीं और वे कैसे तय करती हैं कि कौन-से जैविक अणुओं को कब और कहां बनाना है; यह समझने की कोशिश करना कि तितलियां और अन्य कीट शिकारी से बचने के लिए और उपलब्ध भोजन का अधिकतम उपयोग करने के लिए कैसे विकसित हुए; भ्रूण कैसे एक जटिल जीव में तबदील हो जाता है और कैसे कुछ कृमि अपने अंगों को फिर से विकसित कर लेते हैं; दिमाग के अंदरुनी कामकाज की गुत्थी सुलझाना; और हमारे जीनोम में उन उत्परिवर्तनों को समझने की कोशिश करना जो हृदय सम्बंधी या तंत्रिका-विघटन सम्बंधी रोगों को जन्म देते हैं।

इसी परिसर में सेंटर फॉर सेल्यूलर एंड मॉलीक्यूलर प्लेटफॉर्म्स भी स्थित है। इसका काम ऐसी टेक्नॉलॉजी विकसित करना है जो एनसीबीएस और इनस्टेम तथा देश-विदेशों में अन्यत्र में चल रहे अनुसंधान को संभव बना सकें।

प्रवीण वेमुला इनस्टेम में रसायन शास्त्री हैं। वे ऐसे नए पदार्थ विकसित करते हैं जो न सिर्फ औषधियों को शरीर में सही जगह पहुंचाने में मदद करें, बल्कि शरीर के अंदरुनी रासायनिक पर्यावरण के हिसाब से औषधि प्रदाय का नियंत्रण भी करें। प्रवीण का काम मौलिक है, और वे नई व बुद्धिमान रासायनिक इकाइयों का विकास करने की कोशिश करते हैं। साथ ही उनका काम किसी विशिष्ट चिकित्सकीय समस्या को सुलझाने के लक्ष्य पर टिका है। अर्थात यह एक ऐसे शोध का उदाहरण है जिसमें नवीन ज्ञान का उपयोग तत्काल किसी चिकित्सा समस्या पर किया जा सकता है।

जैसा कि प्रवीण ने इनस्टेम की वेबसाइट पर एक साक्षात्कार में कहा था, उनके "खोजबीन के तरीके में चिकित्साविद शामिल होते हैं ताकि यह समझा जा सके कि मौजूदा समस्याएं क्या हैं और उनके अनुसार लक्ष्य-उन्मुखी ढंग से नए रासायनिक पदार्थ विकसित किए जा सकें।"

परिसर पर मेरे समेत अन्य अधिकांश शोधकर्ताओं के लिए विज्ञान में करियर जिज्ञासा को संतुष्ट करने का ज़रिया है। इसमें सामने कोई अंतिम बिंदु या मंज़िल नहीं होती। जिज्ञासा का मतलब यह भी हो सकता है कि ठोस वस्तुओं के साथ छेड़छाड़ करके यह समझने की कोशिश

करना कि वे क्या करती हैं और कैसे करती हैं, या जिज्ञासा किसी अमूर्त विचार से प्रेरित भी हो सकती है। संदीप कृष्ण एक सैद्धांतिक भौतिक शास्त्री हैं जो भौतिकी के सिद्धांतों को जीव वैज्ञानिक समस्याओं पर लागू करते हैं। शुरुआती वर्षों में ही वे यह देखकर प्रेरित हुए थे कि "विभिन्न गणितीय कथन (खिलौनों के पुर्ज़े नहीं) कैसे अनपेक्षित रूप से आपस में जुड़ते हैं।"

संदीप और अन्य सैद्धांतिक भौतिक शास्त्रियों के लिए कोई भौतिक सिद्धांत इतना सामान्य हो सकता है कि उसका उपयोग खोजबीन के कई क्षेत्रों - जीवन और चिकित्सा विज्ञान समेत - में किया जा सके।

हममें से कई लोग ऐसे जीवों और अणुओं पर काम करते हैं जो चिकित्सकीय व व्यावसायिक दिलचस्पी के होते हैं। एनसीबीएस की दीपा आगाशे ऐसी "जैव वैकासिक व व्यवहारगत प्रक्रियाओं" पर शोध करती हैं जो गुबरैलों (बीटल्स) को विभिन्न पर्यावरणों में जीवित रहने में समर्थ बनाती हैं। इस क्षेत्र में कार्यरत किसी प्रयुक्त वैज्ञानिक के लिए, गुबरैले प्रमुख नाशीकीट हैं और उन पर नियंत्रण महत्वपूर्ण है। दीपा ने यह खोज की है कि गुबरैले गंध की तीक्ष्ण संवेदना का उपयोग पोषण के विविध स्रोतों की तलाश हेतु करते हैं। उनकी यह खोज उपयोगी विज्ञान के किसी भी शोधकर्ता के टक्कर की है जो यह खोज करते हैं कि गुबरैलों पर नियंत्रण करने वाली दवा कीटों की गंध संवेदना को प्रभावित करती हैं।

मेरे अपने अनुसंधान की प्रेरणा का स्रोत यह खोज करना है कि बैक्टीरिया अपने पर्यावरण के साथ अनुकूलन कैसे करते हैं। बैक्टीरिया रोग के वाहक और जैव-टेक्नॉलॉजी के प्रमुख कारक हैं। इसके मद्दे नज़र हमारे इस शोध को चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी माना जा सकता है मगर जब हमने बुनियादी विज्ञान की इस परियोजना पर काम शुरू किया था तब यह बात हमारे दिमाग में बिलकुल भी नहीं थी। वनस्पति वैज्ञानिक शिवप्रसाद के विचार में बुनियादी वैज्ञानिक शोध के ज़रिए जीव विज्ञान को समझना ही निश्चित व टिकाऊ फसल विकास की ओर कदम बढ़ाने का एकमात्र रास्ता है।

तो बुनियादी कहां है, और उपयोगी कहां है? किसी अनुसंधान को उपयोगी कहलाने के लिए उसका उपयोग कितनी जल्दी हो जाना चाहिए?

संदीप कृष्ण ने मेरे साथ ईमेल के ज़रिए अनौपचारिक बातचीत में दलील दी कि ये दोनों "एक निरंतरता के दो छोर हैं।" इस निरंतरता को समझने का एक तरीका यह है कि इसे एक समयक्रम पर प्रस्तुत किया जाए। इस समय अक्ष पर कोई एक समय सीमा होगी जब नवीन ज्ञान एक ऐसे रूप में तबदील हो जाएगा जहां वह समाज को प्रभावित करेगा। इस समय सीमा के पहले उसे बुनियादी अनुसंधान ही कहा जाएगा।

जीव वैज्ञानिकों के लिए विज्ञान यह समझने का एक साधन है कि जीवन कैसे काम करता है और दीर्घावधि में कैसे कुछ साधारण रासायनिक अणु साथ आकर जीवन बन जाते हैं और इसे समझने के लिए किसी पारभौतिक प्रभाव का आव्हान ज़रूरी नहीं है। एक स्तर पर तो यह जासूसी का काम है: सिद्धांत विकसित करना, उनको प्रयोगों और आंकड़ों के विश्लेषण के माध्यम से परखना और देखना कि क्या ये सिद्धांत खरे उतरते हैं। सिद्धांतों को संशोधित किया जाता है, उनका फिर से परीक्षण किया जाता है और यह चक्र चलता रहता है, ज्ञान बढ़ता रहता है। ये चक्र कई बार नई दिशाओं में ले जाते हैं, कभी-कभी मील के पत्थरों की खोज हो जाती है यानी क्रांतिकारी विज्ञान का जन्म होता है। यह विचारों पर प्रभाव, नीतिगत परिवर्तनों या सामाजिक परिवर्तनों का रूप ले सकता है।

चंद ऐसे प्रयास होते हैं जहां अंतिम नतीजा शुरू से ही नज़र में होता है मगर अधिकांश अन्य प्रयासों में यह भी पता नहीं होता है कि इस ज्ञान का उपयोग कहां व कैसे किया जाएगा। कोई शोध सामाजिक बदलाव को जन्म देगा या नहीं, यह बात समय पर निर्भर होती है और समय बदलता रहता है। 1960 व 1970 के दशक में एंटीबायोटिक्स की मदद से संक्रामक रोग नियंत्रण में थे, तो अपनी कुशाग्र बुद्धि के अधीन हमने निर्णय लिया कि ऐसे रोगों के कारकों पर शोध के दिन लद गए हैं और इन्हें निरुत्साहित किया जाना चाहिए। मगर कीटाणुओं ने पलटवार किया; नए-नए

संक्रमण उभरने लगे और पुराने संक्रमण एंटीबायोटिक्स के प्रतिरोधी हो गए। तो, सूक्ष्मजीवों पर अनुसंधान एक बार फिर अग्रणी शोध के क्षेत्र में आ गया है और उम्मीद है कि इसमें बहुत देर नहीं हुई है।

प्रायः बुनियादी विज्ञान को तत्काल सामाजिक रूप से प्रासंगिक बनाने के लिए विभिन्न कुशलताओं और रवैयों वाले वैज्ञानिकों की एक न्यूनतम (क्रांतिक) संख्या को साथ आकर दिमाग भिड़ाने पड़ते हैं। 'बेंच टू बेडसाइड' प्रक्रिया अलग-अलग वैज्ञानिकों के माद्दे का मामला नहीं होता, बल्कि पूरे तंत्र के काम का परिणाम होता है और तंत्र को परिपक्व होने में समय लगता है।

भारतीय विज्ञान, खास तौर से आणविक जीव विज्ञान, युवा है और न्यूनतम निर्णायक संख्या बनना शुरू ही हुआ है। उदाहरण के लिए, समूचे भारत में बढ़िया आणविक जीव वैज्ञानिकों की संख्या यूएस के बोस्टन और उसके आसपास की संस्थाओं में कार्यरत वैज्ञानिकों की संख्या से भी कम है। और तो और, यह संख्या कैम्ब्रिज में कार्यरत वैज्ञानिकों की संख्या से भी कम होगी। लिहाज़ा, भारतीय वैज्ञानिकों और भारतीय संस्थाओं द्वारा किए जा रहे शोध को अर्थव्यवस्था अथवा समाज पर उसके असर के आधार पर परखना शायद मूल बात से भटकना होगा।

प्रत्यक्ष तात्कालिक असर के अभाव में बुनियादी विज्ञान का मूल्यांकन कैसे किया जाए? इनस्टेम में मेरे सहकर्मी और मेरी तरह ही कर्नाटक संगीत के रसिक सुनील लक्ष्मण के शब्दों में, "विज्ञान तो बस अच्छा होता है या बुरा होता है।" तो सवाल है कि हम अच्छे और बुरे विज्ञान के बीच भेद कैसे करें और उससे भी मुश्किल सवाल है कि अच्छे विज्ञान को अच्छेपन के क्रम में कैसे जमाएं। यहां भी महत्व न सिर्फ विभेदन का है बल्कि यह निर्णय करने का है कि अच्छे विज्ञान को प्रोत्साहन कैसे दें।

आजकल की दुनिया में अर्थशास्त्र सम्राट है और कुछ विज्ञानों को अन्य के मुकाबले जीतना पड़ता है। कौन जीतेगा, इसका फैसला ऐसे पैमाने पर होता है जो अल्पावधि में असर को नापता है। कम से कम जीव विज्ञान में तो अकादमिक अनुसंधान में यह एक बीमारी है कि किसी शोध कार्य के परिणाम का महत्व इस बात से आंका जाता है कि वह किस जर्नल में प्रकाशित हुआ है। कई वैज्ञानिक करियर तो दक्ष व अनुभवी वैज्ञानिकों के हाथों में नहीं बल्कि चंद चुनिंदा जर्नलों के संपादकों के हाथों में हैं। इनमें से कई जर्नल व्यावसायिक इकाइयां हैं और इनके हाथों में विज्ञान अर्थशास्त्र में तबदील हो जाता है।

किसी जर्नल की साख प्रायः एक संख्या से नापी जाती है जिसे 'इम्पैक्ट फैक्टर' (असर सूचकांक) कहते हैं। यह संख्या बताती है कि किसी जर्नल में प्रकाशित किसी शोध पत्र का संदर्भ कितने अन्य शोध पत्रों में दिया जाता है। इम्पैक्ट फैक्टर का विकास मूलतः पुस्तकालयों की मदद के लिए किया गया था कि इसे देखकर वे तय कर सकें कि कौन-से जर्नल मंगवाना है। इसी वजह से जर्नल के प्रकाशकों के लिए इम्पैक्ट फैक्टर का व्यापारिक महत्व है।

उसके बाद इस संख्या का दुरुपयोग यह कहकर किया जाने लगा है कि इससे किसी शोध पत्र अथवा वैज्ञानिक का महत्व पता चलता है। यह कई कारणों से गलत है। मेरे काम का मेरा स्व-आकलन बताएगा कि मेरे सर्वोत्तम शोध पत्र कम इम्पैक्ट फैक्टर वाले जर्नल्स में प्रकाशित हुए हैं। इसके विपरीत, मेरे वे काम जो बौद्धिक रूप से उतने संतोषदायक नहीं थे, वे किसी वजह से ज़्यादा आकर्षक पत्रिकाओं में छपे। और ऐसा स्व-आकलन करने वाला मैं अकेला नहीं हूं।

अच्छी बात यह है कि हाल ही में सरकार की प्रमुख विज्ञान फंडिंग संस्थाओं ने मुक्त उपलब्धता वाले प्रकाशन को लेकर नीतिगत दस्तावेज़ जारी किया है। इसमें उन्होंने विज्ञान की गुणवत्ता के एक पैमाने के रूप में इम्पैक्ट फैक्टर को खारिज कर दिया है। इसी तर्ज पर, यह दस्तावेज़ यह भी कहता है कि "किसी शोध कार्य की निहित श्रेष्ठता को फंडिंग सम्बंधी भावी निर्णयों का आधार बनाया जाना चाहिए, न कि इस बात को कि किसी शोधकर्ता का कार्य किस जर्नल में छपा है।" ऐसा लगता है कि यह नीति इन संस्थाओं के विज्ञान प्रशासन के हर स्तर पर पहुंच नहीं पाई है मगर शायद यह सिर्फ समय का मामला है। विडंबना यह है कि शायद कई राज्य और निजी विश्वविद्यालय ऐसे

अनुपयुक्त आंकिक पैमानों का उपयोग अपने शोधकर्मियों और छात्रों के प्रदर्शन के मूल्यांकन हेतु करते रहेंगे। इसमें शीघ्र सुधार की ज़रूरत है।

यदि संख्यात्मक पैमाने बेकार हैं, तो समाधान क्या है? बदकिस्मती से, इस सवाल का जवाब असुविधाजनक है और उसका क्रियांवयन सही अर्थों में आसान नहीं है। अपनी सारी कमियों के बावजूद, समकक्ष समीक्षा (पीयर रिव्यू) प्रणाली ही विज्ञान के मूल्यांकन का सर्वोत्तम तरीका है, जिसमें किसी शोधकर्ता द्वारा प्रकाशन के लिए प्रस्तुत किए गए शोध पत्र का आकलन उस विषय के विशेषज्ञों द्वारा किया जाता है।

दुनिया के सर्वोत्तम अकादमिक संस्थान अपनी जूनियर फेकल्टी की कार्यावधि तय करते वक्त और सहायक प्राध्यापकों को पदोन्नति देकर एसोसिएट प्राध्यापक या प्राध्यापक बनाने से पहले इसी तरीके का इस्तेमाल करते हैं। स्वाभाविक रूप से यह व्यक्तिनिष्ठ तरीका है और जब विज्ञान अधिकाधिक विशेषीकृत होता जा रहा है, तब ऐसे व्यक्तियों का समूह छोटा से छोटा होता जा रहा है जो किसी शोध कार्य का आकलन कर सकें। ऐसे में समीक्षकों को चुनना मुश्किल होता जाता है। और मुझे लगता है कि विषय-विशेष के जर्नल्स उपयुक्त समीक्षक खोजने का काम सबसे बढ़िया करते हैं, न कि लोकप्रिय व प्रतिष्ठित जर्नल।

यह कोई रहस्य नहीं है कि कभी-कभी वैज्ञानिकों के नेटवर्क्स तय करते हैं कि कोई शोध कार्य प्रकाशित होगा या नहीं और होगा तो कहां होगा, हालांकि यह तो कहना होगा कि यह सब तभी होता है जब शोध कार्य एक न्यूनतम स्तर की गुणवत्ता वाला हो। यह महत्वपूर्ण होता जा रहा है कि समकक्ष समीक्षा का काम पारदर्शिता पूर्ण हो।

कुछ उत्साहजनक संकेत हैं। हाल ही में कुछ जर्नल्स ने शोध पत्र के समीक्षकों की रिपोर्ट और शोध पत्र के लेखक के जवाब भी छापना शुरू किया है। विज्ञान एक चलती हुई प्रक्रिया है और ज़रूरी नहीं कि किसी प्रकाशित पर्चे में छपे निष्कर्ष अंतिम शब्द हों। लिहाज़ा प्रकाशन-उपरांत चर्चा व समीक्षा अनिवार्य है। यह काम प्रयोशालाओं में 'जर्नल्स क्लब्स' में तो खूब होता है मगर सार्वजनिक रूप से नहीं। वैज्ञानिकों के बीच सोशल नेटवर्किंग के हालिया नवाचार ने प्रकाशित पर्चों पर सार्वजनिक ऑनलाइन बहस को प्रोत्साहित किया है। इन चर्चाओं में कई बार विज्ञान व वैज्ञानिक प्रकाशन में होने वाली गड़बड़ियां उजागर हुई हैं। अलबत्ता, चर्चा में शामिल लोगों की पहचान गुप्त रखने की वजह से कभी-कभी गड़बड़ियां भी हुई हैं।

हम कई बार उद्योग व राजनैतिक नेताओं को विश्वविद्यालय की रैंकिंग की ओर इशारा करते सुनते हैं। ये लोग प्रायः उपरोक्त मापदंड़ों के आधार पर हमारे विश्वविद्यालयों के घटिया प्रदर्शन का रोना रोते हैं। जहां एक शोधकर्ता या शोधकर्ताओं के समूह का आकलन इन पैमानों पर करना निहायत जटिल है, वहीं पूरे विश्वविद्यालय का आकलन तो सर्वथा अविश्वसनीय है।

जैसा कि मानव संसाधन मंत्रालय ने अपने दस्तावेज़ "थीम्स एंड क्वेश्चन्स फॉर पॉलिसी कंसल्टेशन ऑन हायर एजूकेशन' (उच्च शिक्षा पर नीतिगत परामर्श हेतु विषय और प्रश्न) में कहा है, ये रैंकिंग व्यक्तिनिष्ठ एहसासों पर आधारित होते हैं और जब किसी विश्वविद्यालय में होने वाले समस्त कार्यों पर लागू किए जाते हैं तो अत्यंत तानाशाहीपूर्ण होते हैं।

सार रूप में, सामाजिक-आर्थिक लाभों के आधार पर विज्ञान फंडिंग की प्राथमिकताएं तय करना या वैज्ञानिक ज्ञान का मूल्यांकन करना काफी समस्यामूलक है। सिंगापुर जैसे देशों के विपरीत भारतीय विज्ञान फंडिंग संस्थाएं सक्रियता से इस अजेंडा का पालन नहीं करती हैं मगर एहसास इससे उल्टा है और उसे संबोधित करने की ज़रूरत है। यह ज़रूरी है कि नीतिकार व उद्योग एक कदम पीछे हटें और हमारे वैज्ञानिकों और वैज्ञानिक संस्थानों के प्रदर्शन पर टिप्पणी करने से पहले भारतीय अकादमिक तंत्र की विरल किंतु बढ़ती प्रकृति को समझें।

हाल ही में देश में एक ही परिसर में उच्च गुणवत्ता वाली शोध संस्थाओं के समूह बनाने पर ज़ोर आया है। यह सही दिशा में एक छोटा-सा उत्साहजनक कदम है। सही लोगों के हाथों में प्रशासनिक स्वायत्तता और अर्थव्यवस्था की बजाय गुणवत्ता पर ज़ोर हमारे विज्ञान को आगे ले जाने

में मददगार होगा।

और अंत में, क्या यह ज़रूरी है कि अंततः सारे शोध के परिणाम आर्थिक या सामाजिक लाभ के रूप में सामने आएं? इंसान होने का मतलब ही जिज्ञासु होना है और हमारे ज्ञान में कोई भी वृद्धि हमें ज़्यादा मानवीय बनाने में इस्तेमाल की जा सकती है।

यहां मैं पूरी तरह दार्शनिक बात नहीं कर रहा हूं। मानव विकास की प्रक्रिया ने नियोटेनी के गुण को जन्म दिया है। इसका मतलब है कि चिम्पैंज़ी की तुलना में वयस्क मनुष्यों में बाल-सुलभ गुण ज़्यादा उम्र तक बरकरार रहते हैं। हम जीवन भर जिज्ञासु बने रहते हैं। यह सिद्धांत भी प्रस्तुत हुआ है कि लंबे समय तक बालपन बने रहने के कारण हमारा दिमाग ज़्यादा समय तक विकसित होता रहता है। बड़े दिमाग ने हमें उन मिथकों की रचना करने में मदद दी होगी जिनकी बदौलत बड़े समाज, शहर और अंततः धार्मिक व राष्ट्रीय साम्राज्यों का निर्माण होता है।

कृत्रिम बुद्धि के क्षेत्र में भी किसी एल्गोरिद्म को थोड़ी देर मुक्त खोजबीन करने देना (बगैर किसी अंतिम लक्ष्य के) ज़रूरी होता है ताकि वह किसी ढर्रे में न उलझ जाए। इस तरह हम सीखते हैं और बगैर किसी अनिवार्य उद्देश्य के सीखना हमें नई ज़मीन तोड़ने में समर्थ बनाता है। न कहने वाले पूछेंगे कि क्या इसके दम पर हम कहीं पहुंचे हैं? चाहे कहीं पहुंचे हों या नहीं, मगर निकट भविष्य में वापिस लौटने की तो कोई गुंजाइश नहीं है। ***(स्रोत फीचर्स)***